

‘श्री दादूवाणी’ में समन्वय भावना

डॉ. श्रुति शर्मा

सह आचार्य, हिंदी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

ARTICLE DETAILS

Article History

Published Online: 05 December 2020

Keywords

समन्वय, साम्यवाद, विषमता, सहिष्णुता, संप्रदाय, पंथ।

ABSTRACT

संत दादूदयाल भक्तिकाल के निर्गुण धारा के ज्ञानाश्रयी शाखा के सर्वश्रेष्ठ संत कवि हैं। इन्होंने एक निर्गुण संप्रदाय की स्थापना की, जो ‘दादूपंथ’ के नाम से जाना जाता है। वे मुगल सम्राट शाहजहाँ के समकालीन थे। उन्होंने अपना अधिकांश जीवन राजपूताना में व्यतीत किया तथा हिन्दू और इस्लाम धर्म में समन्वय स्थापित करने के लिए अनेक पदों की रचना की। उनके अनुयायी न तो मूर्तियों की पूजा करते हैं और न कोई विशेष प्रकार की वेशभूषा धारण करते हैं। वे सिर्फ राम का नाम जपते हैं और शांतिमय जीवन में विश्वास करते हैं।

आज संसार में सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों के समाधान के लिये जो सर्वोत्कृष्ट उपाय माना गया है वह है साम्यवाद। संपूर्ण विश्व की दृष्टि शीघ्रता से साम्यवाद की तरफ आकृष्ट हो रही है। वस्तुतः समन्वय भावना सभी रोगों की अमोघ औषधि है; किन्तु आजकल यूरोपीय देशों में प्रचलित साम्यवाद वास्तविक समन्वय नहीं है। वह केवल जनता पर बलपूर्वक थोपी गयी एक आर्थिक समानता है। इस साम्यवाद से मनुष्य के मन में प्राणिमात्र के प्रति या मनुष्यमात्र के प्रति समन्वय-भावना या बन्धुत्व-भावना पैदा नहीं होती। आधुनिक साम्यवाद के अनुसार पूँजी एवं उत्पादन साधनों को कुछ व्यक्तियों के हाथ में जाने से रोका जा सकता है, फिर भी मनुष्य की दुर्भावना एवं द्वेषभावना को नहीं मिटाया जा सकता। एक साम्यवादी राष्ट्र भी दूसरे राष्ट्र पर उसी तरह आक्रमण करने एवं उसको अपने अधीन बनाने के लिये सन्नद्ध है जैसे एक साम्राज्यवादी देश।

मध्ययुगीन भक्ति आंदोलन का पूर्व काल जाति और वर्ण व्यवस्था की दृष्टि से अत्यंत प्रतिक्रियावादी तो था ही, परंतु धीरे-धीरे यह बंधन और कठोर होता गया। ब्राह्मण और पुरोहित वर्ग का वर्चस्व और निर्दयतापूर्ण व्यवहार शूद्रों और कुछ हद तक वैश्यों के प्रति भी क्रूर होता गया। इस भेदभाव ने समाज में अनेकों कुरीतियों को जन्म दिया। जाति-पांति का यह विरोध और भक्ति मार्ग में इसको न स्वीकारना भक्ति-साहित्य का एक विषय बन गया। इस क्रूर यथार्थ को संत कवि जानते थे। फिर भी, उनके मन में अपनी जाति सम्बन्धी कोई हीन भावना नहीं थी। अतः उन्होंने न तो अपनी जाति को छिपाया और न इसे चरम सत्य मानकर पूजा की। कई बार स्वयं इनके जिज्ञासु भक्त भी यह पूछ ही लेते थे कि महाराज, आपकी जाति क्या है। ऐसे जिज्ञासु भक्तों को सम्बोधित करते हुए दादू ने लिखा है—

“दादू कुल हमारे केशवा, सगा तो सिरजनहार।
जाति हमारी जगद्गुरु, परमेश्वर परिवार।।
दादू एक सगा संसार में, जिन हम सिरजे सोइ।।
मनसा वाचा कर्मना, और न दूजा कोई।।”¹

यहाँ दादू ने अपनी विचार प्रणाली को व्यक्त करते हुए कहा है कि मेरे सच्चे सम्बन्ध तो ईश्वर से हैं। और इसी सम्बन्ध से मेरा परिचय है। परिवार में अपने-पराये की भावना आ जाती है। दादू इसे संसार की ‘माया’ और संसार के ‘मोह’ की संज्ञा देते हैं। दादू अपने आपको इनसे मुक्त कर चुके थे, वह संसार में रहते हुए भी सांसारिक बंधनों को काट चुके थे। अतः निरर्थक जात-पांत की लौकिक भाषा में अपना वास्तविक परिचय कैसे देते। सभी संतों ने अपनी-अपनी वाणी में इसके विरोध में एकजुटता दिखाई है। इस भक्ति आंदोलन से भारतीय संस्कृति में स्वर्ण युग का उदघाटन हुआ। भिन्न-भिन्न संप्रदायों में पारस्परिक संघर्ष को मिटाकर समन्वय की प्रवृत्ति को इन संतों के कठिन परिश्रम से ही बल मिला।

दादू ने समाज में प्रचलित ढोंग, पाखण्ड, आडम्बर, जात-पांत तथा वर्गभेद आदि बुराईयों का जोरदार खंडन किया है। उन्होंने तीर्थ यात्रा को ढकोसला बताते हुए कहा है कि ईश्वर प्रत्येक व्यक्ति के मन में निवास करता है, अतः तीर्थ स्थानों पर जाकर उसे ढूँढना एक ढकोसला मात्र है। उन्होंने कहा कि सिर मुंडाकर, जटा बढाकर, विविध प्रकार के वस्त्र धारण करने से ईश्वर प्राप्त नहीं होता। उनका कहना था कि मस्जिद में जाना, नमाज पढ़ना एवं रोजे रखना भी व्यर्थ है। उन्होंने कहा कि हमारे शरीर में ही मंदिर तथा मस्जिद विद्यमान हैं, अतः हमें अन्तरु करण की उपासना करनी चाहिए। दादू विविध पूजा-पद्धतियों के विरोधी थे। उनके अनुसार ईश्वर एक है और उसके दरबार में मनुष्य-मनुष्य के

बीच कोई अन्तर नहीं है। हिन्दू और मुसलमान का वर्ग भेद मानव निर्मित है, जिसका कोई महत्व नहीं है। सभी जीवात्माएँ एक ही ईश्वर से उत्पन्न होती हैं, अतरु वे एक ही परिवार की इकाईयाँ हैं। सभी के शरीर में एक ही आत्मा है। इसीलिए दादू ने हिन्दू और मुसलमान के बाहरी आडम्बरों का खंडन किया एवं दोनों को अन्तरकरण की शुद्धि का उपदेश दिया। दादू विनम्रता से अपनी बात कहते हैं और इनकी शैली सरल तथा स्पष्ट है। इसके विपरीत कबीर के कहने में थोड़ी उग्रता दिखाई देती है।

‘दादू जन्म-लीला परची’ तथा ‘संत गुण सागर’ नामक ग्रन्थों से पता चलता है कि दादू के शिष्यों में 152 प्रधान शिष्य थे, जिनमें से 100 वीतरागी थे अर्थात् उन्होंने अपना एक भी शिष्य नहीं बनाया, जबकि शेष 52 ने अपने-अपने स्तम्भों की स्थापना की। इस प्रकार गुरु-शिष्य की परम्परा आगे भी चलती रही। ये स्तम्भ ही ‘दादू पंथी सम्प्रदाय’ के नाम से प्रसिद्ध हैं। दादू पंथी साधु अविवाहित होते हैं, और दादू द्वारों में रहते हैं। वे किसी गृहस्थ के लड़के को अपना शिष्य बनाते हैं, जिससे उनके पंथ की परम्परा आगे बढ़ती रहती है। दादूपंथी तिलक नहीं लगाते हैं, गले में माला नहीं पहनते हैं, सिर पर चोटी नहीं रखते हैं और किसी मंदिर में जाकर पूजा नहीं करते हैं। वे अपने दादू द्वारों में दादूजी की वाणी नामक ग्रन्थ रखते हैं तथा उसका वाचन अर्चन करते हैं। दादूपंथियों में मृत्यु के बाद शव को न तो दफनाया जाता है और न ही जलाया जाता है, अपितु शव को चारपाई पर लिटाकर जंगल में रख दिया जाता है, ताकि पशु – पक्षी उससे अपना पेट भर सकें। इस प्रकार दादू तथा उसके सम्प्रदाय ने 16वीं शताब्दी में राजस्थान में व्याप्त सामाजिक कुरीतियों तथा धार्मिक आडम्बरों का खंडन किया, जिससे नवजागृति उत्पन्न हुई। दादू ने अपने उपदेश जन भाषा में दिये। उन्होंने ‘ढूँढाड़ी’ भाषा का प्रयोग किया, जो जयपुर राज्य के जनसाधारण की बोलचाल की भाषा थी। डॉ. दशरथ शर्मा ने अपनी पुस्तक ‘राजस्थान का इतिहास’ में लिखा है, ‘दादू पंथ में प्रेम एक ऐसा धागा है, जिसमें गरीब और अमीर एक साथ बांधे जा सकते हैं और जिसकी एकसूत्रता विश्व-कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर सकती है।’

संसार के मूल कारण ब्रह्म (पुरुष) एवं प्रकृति का स्वरूप ही समत्वरूप है। ब्रह्म एवं आत्मा का रूप समस्त संसार के पदार्थों में समान है, उसमें किसी प्रकार का अन्तर या भेद नहीं है। वह सभी कालों एवं परिस्थितियों में समान रहता है। जैसे सूर्य का प्रकाश नील, पीत, हरित, रक्त आदि दर्पणों में समान रूप से पड़ता है एवं समान रूप से ही रहता है। नील, पीत, हरित आदि उपाधियों के भेद से चाहे उसमें विषमता एवं विभिन्नता ज्ञात हो; किन्तु वस्तुतः उसमें किसी भी प्रकार की विषमता एवं विभिन्नता नहीं है। उसी प्रकार

उपाधिभेद से चाहे आत्मा में ज्ञानित्व, अज्ञानित्व, सुखित्व एवं दुखित्व, धनित्व एवं निर्धनत्व आदि विषमता प्रतीत हो, किन्तु स्वरूपतः वह सबमें समान ही है और समत्व ही उसका स्वरूप है। उसी तरह जगत् का उपादान कारण प्रकृति भी सर्वत्र हमेशा समान ही है। सत्त्व, रज एवं तम की साम्यावस्था ही प्रकृति कहलाती है। सांख्यसूत्र में कहा भी गया हैकृ “सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः।” उसमें आगन्तुक कारणान्तरकृत विषमता भले ही रहे; किन्तु स्वरूपकृत विषमता नहीं है। समस्त जगत् जब इन्हीं दो तत्त्वों से उत्पन्न होता है, तब उसमें समत्व भावना क्यों नहीं हो सकती? अवश्य होगी! उसको जानने एवं व्यवहार में लाने की आवश्यकता है।

भारतीय महर्षियों ने इस भौतिक जगत् की विषमता के अन्तःअनुस्यूत उस समता का दर्शन किया था और उसे समझा था और इसीलिये वे संसार में उस समत्व के दर्शन द्वारा सर्वत्र शान्ति एवं सुख समृद्धि को स्थापित करने में समर्थ हो सके थे। भारतीय साहित्य एवं भारतीय संस्कृति में तथा भारतीयों के प्रत्येक समाज एवं धर्म में हमें इस समत्व भावना के दर्शन होते हैं। प्राचीन वैदिक महर्षियों ने प्राकृतिक सूर्य, उषा, अग्नि आदि जगत् के प्रत्येक पदार्थ में उस चिरन्तन सत्य तत्व का दर्शन किया था और उस अलौकिक दिव्य आनन्द की अनुभूति की थी। इसके बाद महाभारतकाल एवं पुराणकाल में भी हमें यही भावना विस्तृत रूप से दृष्टिगोचर होती है। गीता में इस समत्वदर्शन का अत्यन्त स्पष्ट उल्लेख मिलता है। एवं कर्तव्यच्युत अर्जुन को कर्तव्यमार्ग का उपदेश देते हुए भगवान् ने समत्वरूप योगनिष्ठ होकर कर्म करने का उपदेश किया है—

“योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।”²

इसी समत्वदर्शन एवं समत्वयोग का वर्णन गीता में अनेक स्थान पर किया है और इस समत्व भावना के द्वारा सब दुःखों से मुक्ति बतलायी है। केवल मनुष्यों में ही नहीं, अपितु प्राणिमात्र में समत्वदर्शन का उपदेश गीता में किया गया है; क्योंकि समत्वभावना का मूल कारण आत्मा सबमें समानरूप से विद्यमान है—

“विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।

शुनि चौव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।।”³

“इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।

निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः।।”⁴

“सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।

साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते।।”⁵

इसी समत्वयोग का दर्शन हमें शंकर के अद्वैत मत में एवं भक्ति दर्शनों में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। सहिष्णुता की मूल आधार भित्ति इसी समन्वय भावना के कारण भारत में

नाना धर्मों, मतों एवं सम्प्रदायों के होते हुए भी किसी प्रकार का विरोध दिखायी नहीं देता, अपितु इस भारत भूमि में सभी विभिन्न धर्मों एवं मतों का निर्विरोध समन्वय चलता आया है। संत दादूदयाल की इन अधोलिखित साखियों में इस एकात्मदर्शन रूप समन्वय भावना की पुष्टि होती है—

“आतम भाई जीवन सब, एक पेट परिवार ॥
दादू मूल विचारिये, तो दूजा कौन गँवार ॥”⁶
“दादू पूरण ब्रह्म विचारले, द्वैत भाव कर दूर ॥
सब घट साहिब देखिये, राम रह्या भरपूर ॥”⁷
“दादू सम कर देखिये, कुंजर कीट समान ॥
दादू दुविधा दूर कर, तज आपा अभिमान ॥”⁸
“पूरण ब्रह्म विचारिये, तब सकल आतमा एक ॥
काया के गुण देखिये, तो नाना वरण अनेक ॥”⁹

जब इस एकात्म दर्शन रूप समन्वय भावना का उदय हो जाता है तब पारस्परिक वैर-विरोध स्वयं नष्ट हो जाता है और दुःख तथा शोक की निवृत्ति भी हो जाती है—

“यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद् विजानतः ॥
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥”¹⁰

यह ईशोपनिषद् मंत्र इसी भाव को व्यक्त कर रहा है। संत दादूदयाल ने भी इस भाव की अभिव्यक्ति निम्न साखियों में की है—

“ज्यों आपै देखे आप को, यों जे दूसर होइ ॥
तो दादू दूसर नहीं, दुःख न पावे कोइ ॥”¹¹
“किस सौं बैरी हवै रह्या, दूसर कोई नाहिं ॥
जिसके अंग तैं ऊपजे, सोई है सब माहिं ॥”¹²

संत दादूदयाल जी ने केवल जंगम प्राणियों में ही नहीं, स्थावर (वृक्षादि) प्राणियों में भी इस समन्वय एवं एकता

की भावना के दर्शन किये हैं और उनको सताने का भी निषेध किया है। जैसे—

“दादू सूखा सहजै कीजिये, नीला भाँनै नाहिं ॥
काहे को दुख दीजिये, साहिब है सब माहिं ॥”¹³

जिस प्रकार गीता में समत्वदर्शी को तथा समत्वदर्शन के द्वारा सब में निर्वैरता रखने वाले को ही वस्तुतः योगी एवं श्रेष्ठ कहा है; उसी प्रकार संत दादूदयाल ने भी इस समन्वय भावना वाले साधक को ही वास्तविक साधु बतलाया है—

“सोई साधु शिरोमणि, गोविन्द गुण गावै ॥
राम भजै विषया तजै, आपा न जनावै ॥टेक ॥
मिथ्या मुख बोलै नहीं, पर निन्दा नाहिं ॥
औगुण छाड़े गुण गहै, मन हरि पद माहिं ॥
निर्वैरी सब आतमा, पर आतम जानै ॥
सुखदाई समता गहै, आपा नहिं आनै
आपा पर अन्तर नहीं, निर्मल निज सारा ॥
सतवादी साचा कहै, लै लीन विचारा ॥
निर्भय भज न्यारा रहै, काहू लिप्त न होई ॥
दादू सब संसार में, ऐसा जन कोई ॥”¹⁴

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि समत्वदर्शन एवं समस्त भावना बहुत ही श्रेष्ठ तत्व है। भारत में पहले जीवनरूपी पहलुओं के सभी क्षेत्रों में इसे उच्च आसन दिया जाता था। सर्वत्र हीनयोग एवं अतियोग का निषेध कर समत्वयोग को अपनाया जाता था। किन्तु आज यह भावना भारतीय जीवन से नष्ट होती जा रही है। हमें सच्चे साम्यवाद की स्थापन करना है तो महर्षियों एवं संतों द्वारा प्रतिपादित इसी समन्वय भावना को अपनाना होगा। ‘श्री दादूवाणी’ में संत दादूदयाल ने समन्वय की धारा प्रवाहित की है जो पूरे मानव जाति के लिए कल्याणकारी एवं मंगलकारी है।

संदर्भ—

1. श्री दादूवाणी (सटीक), संपादक, था. रामप्रसाद दास स्वामी, अशोक स्वामी, निष्कामी पतिव्रता का अंग, साखी—15—16, श्री दादू दयालु महासभा, जयपुर, अष्टम् संस्करण, पृ. 188
2. श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय 2, श्लोक 48, गीताप्रेस गोरखपुर, संवत् 2070, पृ. 39
3. श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय 5, श्लोक 18, गीताप्रेस गोरखपुर, संवत् 2070, पृ. 79
4. श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय 5, श्लोक 19, गीताप्रेस गोरखपुर, संवत् 2070, पृ. 80
5. श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय 6, श्लोक 9, गीताप्रेस गोरखपुर, संवत् 2070, पृ. 86
6. श्री दादूवाणी (सटीक), संपादक, था. रामप्रसाद दास स्वामी, अशोक स्वामी, दया निर्वैरता का अंग, साखी—18, श्री दादू दयालु महासभा, जयपुर, अष्टम् संस्करण, पृ. 430
7. वही, साखी—16, पृ. 430
8. वही, साखी—25, पृ. 431
9. श्री दादूवाणी (सटीक), संपादक, था. रामप्रसाद दास स्वामी, अशोक स्वामी, पारिख का अंग, साखी—14, पृ. 420
10. ईशावास्योपनिषद्, मंत्र — 7

11. श्री दादूवाणी (सटीक), संपादक, था. रामप्रसाद दास स्वामी, अशोक स्वामी, दया निर्वैरता का अंग, साखी-24, श्री दादू दयालु महासभा, जयपुर, अष्टम् संस्करण, पृ. 431
12. वही, साखी-9, पृ. 429
13. वही, साखी-19, पृ. 430
14. श्री दादूवाणी (सटीक), संपादक, था. रामप्रसाद दास स्वामी, अशोक स्वामी, पद सं. 347, श्री दादू दयालु महासभा, जयपुर, अष्टम् संस्करण, पृ. 672